अधि–नीतिशास्त्र का उदय, विकास एवं समस्याएँ

डॉ० कोमल कुशवाहा
(पूर्व शोध छात्रा)
दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज
ईमेलः kushwahakomal966@gmail.com

सारांश

अधि–नीतिशास्त्र, नीतिशास्त्र के अन्तर्गत वह नवीन शाखा है जो नैतिक प्रत्ययों जैसे, 'शुभ' 'अशुभ' 'उचित' 'अनुचित' 'कर्तव्य' आदि के अर्थ का विश्लेषण कर उसके स्वरूप को स्पष्ट करती है। यह नैतिक भाषा के सभी पक्षों का तटस्थ एवं व्यवस्थित अध्ययन, स्पष्टीकरण तथा तार्किक विश्लेषण करती है। अधिनीतिशास्त्र में हम तीन बातों पर विशेष रूप से विवेचना करते हैं। ये अधिनीतिशास्त्र की मूल समस्याएँ हैं– अर्थ, स्वरूप एवं प्रमाणीकरण की चर्चा करना। वस्तुतः प्रस्तुत शोध–पत्र का मुख्य *उद्देश्य* अधि–नीतिशास्त्र के उदय, विकास एवं समस्या का चूंकि स्पष्टीकरण करना है अतः इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु हमने अपने शोध–पत्र में अधि–नीतिशास्त्र के उदय एवं विकास को मुख्यतः दो दृष्टिकोण के आधार पर अध्ययन करने का प्रयास किया है। जिसमें से प्रथम दृष्टिकोण 'मूर के पूर्व का अधि–नीतिशास्त्र' एवं द्वितीय दृष्टिकोण 'बीसवीं शताब्दी का अधि–नीतिशास्त्र' है। तत्पश्चात् हमने प्रथम दृष्टिकोण में देखा कि अधि–नीतिशास्त्र में निहित समस्याएँ बीसवीं शताब्दी के *Principia Ethica* (1903) के रचना के पश्चात् ही उत्पन्न नहीं होती है अपितु ये समस्याएँ ग्रीक युग, मध्य युग एवं आधुनिक युग के यूरोप के दर्शन में भी विद्यमान है। इस सम्बन्ध में हमने अपने शोध–पत्र में शुभ के आकार एवं न्याय के स्वरूप से सम्बन्धित ग्रीक दार्शनिक प्लेटो का संवाद एवं मानवीय शुभ से सम्बन्धित ग्रीक दार्शनिक अरस्तू के संलाप को प्रस्तुत किया है। इस क्रम में चीन के दाओवादी परम्परा के ज्वाँजी, जॉन स्टुअर्ट मिल, बेन्थम, बुद्धिवादी डेकार्ट से लेकर अनुभववादी ह्यूम एवं काण्ट के मत भी प्रस्तुत किये गये हैं।

Reference to this paper should be made as follows:

Received: 13.09.2021
Approved: 24.09.2021

डॉ० कोमल कुशवाहा

अधि–नीतिशास्त्र का उदय, विकास एवं समस्याएँ

RJPP 2021,
Vol. XIX, No. II,

pp.298-306
Article No. 39

Online available at *:*
https://anubooks.com/rjpp-2021-vol-xix-no-1

तत्पश्चात् द्वितीय दृष्टिकोण में यह देखा गया कि 20वीं शताब्दी में मूर की *Principia Ethica* (1903) के प्रकाशित होने के पश्चात् नैतिक भाषा के सत्यता एवं सार्थकता के सम्बन्ध में अधि–नैतिक प्रश्न और अधिक विकसित हो गया। इस सम्बन्ध में हमने दो अधि–नैतिक सिद्धान्त जिसमे प्रथम संज्ञानवाद (जो कि प्रकर्षतिवाद एवं निर्प्रकृतिवाद में विभाजित है) एवं द्वितीय असंज्ञानवाद (ये भी संवेगवाद एवं परामर्शवाद में विभक्त है) के मत प्रस्तुत किये गये।

अपने शोध–पत्र के अन्तिम खण्ड में हमने देखा कि नैतिक भाषा से सम्बन्धित समस्याएँ मुख्यतः उसके अर्थ, स्वरूप एवं प्रमाणिकरण के चर्चा के उपरान्त उत्पन्न होते हैं तथा देखा कि संज्ञानवादी एवं असंज्ञानवादी दार्शनिक उन समस्याओं को कैसे सुलझाते हैं।

मूल बिन्दु

अधि–नीतिशास्त्र, उदय, विकास, समस्याएँ एवं औचित्यिकरण।

भूमिका

अधि–नीतिशास्त्र विश्लेशणात्मक दर्शन की वह शाखा है जो कि नैतिक भाषा के अर्थ का विश्लेषण करते हुए उसके सत्यता एवं सार्थकता की चर्चा करता है एवं उसकी प्रमाणिकता को सिद्ध करने हेतु कुछ अधि–नैतिक मापदण्ड को प्रस्तुत करता है जो कि मानकीय नैतिक सिद्धान्त के कार्य से भिन्न होता है। कारण यह है कि जहाँ मानकीय नीतिशास्त्र नैतिकता के आधारों की विवेचना करता है वहीं अधि–नीतिशास्त्र नैतिक भाषा और औचित्यकरण की गवेषणाएँ करता है।

नीतिशास्त्र की स्पष्ट धारणा के लिए इसके अर्थ एवं कार्यों की व्याख्या करना अधिक उचित लगता है। पंरतु नैतिक विचारकों ने नीतिशास्त्र के कार्यो के संबंध में कहा है कि 'यह करो वह न करो' जैसे नियमों का प्रतिपादन करना नीतिशास्त्र का एक मात्र कार्य नहीं है। नीतिशास्त्र के मानकीय और व्यावहारिक कार्य महत्वपूर्ण हैं किन्तु तार्किक भाववादियों के प्रभाव के कारण माना गया है कि किसी अमुक मानवीय आचरण का मूल्यायन किसी निर्धारित कसौटी के आधार पर यदि शुभ या अशुभ के रूप में किया जाए तो यह बात कभी सार्थक नहीं हो सकती है जब तक कि मूल्यायन कर्ता 'शुभ' और 'अशुभ' जैसे पदों के अर्थ को न समझे। अवएव नीतिशास्त्रीय विवेचना के अंतर्गत नैतिक भाषा की अर्थपूर्णता और सत्यता जैसी विवेचना को सम्मिलित करना होगा। साथ ही तार्किक भाववादियों की समीक्षा से यह बात भी सामने आयी है कि नैतिक मानकों की बात करने से या उसकी व्याख्या मात्र कर देने से कुछ भी नहीं होता है। हम उन मानकों को क्यों स्वीकार करें यह भी स्पष्ट करना चाहिए। इस बात का क्या आधार है कि किसी एक मानदण्ड को माना जाए और दूसरे को नहीं? यदि हम नैतिकता के आधारस्वरूप मानक को स्वीकार करते हैं तो उस मानक की स्वीकृति का आधार क्या है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है। इसी से नैतिक औचित्यिकरण की समस्या उभरकर सामने आती है जिस पर दृष्टिपात करना नीतिशास्त्र की नवीनतम शाखा अधि नीतिशास्त्र का कार्य है।

Metaethics (अधि–नीतिशास्त्र) के अन्तर्गत "Meta" (अधि) नामक पद ग्रीक के "Beyond"(के परे) नामक पद से निगमित हुआ है। अतः यह इस प्रकार का अध्ययन है जो कि मानकीय नीतिशास्त्र में निहित विषयों *के परे* अध्ययन करता है। इस प्रकार अधि–नीतिशास्त्र विश्लेषणात्मक दर्शन की वह शाखा है जो कि नैतिक भाषा के अर्थ का विश्लेषण करते हुए उसके सत्यता एवं सार्थकता की चर्चा करता है एवं उसकी प्रमाणिकता को सिद्ध करने हेतु कुछ

अधि–नैतिक मापदण्ड को प्रस्तुत करता है जो कि मानकीय नैतिक सिद्धान्त के कार्य से भिन्न होता है। कारण यह है कि जहां मानकीय नीतिशास्त्र किसी कर्म के औचित्यिकरण एवं अनौचित्यिकरण हेतु किसी निश्चित मापदण्ड के आधार पर कोई निर्णय प्रस्तुत करता है, वहीं अधि–नीतिशास्त्र, मानकीय नीतिशास्त्र द्वारा प्रस्तुत किये गये निर्णयों के अर्थ एवं स्वरुप का विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है।

ध्यातव्य हो कि अधि–नीतिशास्त्र के उदय एवं विकास के आधार के रुप में यद्यपि कि जी0 ई0 मूर का योगदान है किन्तु इनके पूर्व के नैतिक विचारक भी अधिनैतिक कार्यों की विवेचना में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। इस तथ्य का अध्ययन निम्न प्रस्तावित खण्ड में किया जाएगा।

अधि–नीतिशास्त्र का विकास

इसका अध्ययन दो दृष्टिकोण के आधार पर किया जा सकता है–

1– मूर के पूर्व का अधि–नीतिशास्त्र– यद्यपि कि ''अधि–नीतिशास्त्र'' शब्द का प्रयोग नीतिशास्त्रीय अध्ययन में बीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों के द्वारा हुआ, जिन्होंने कुछ महत्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न उठाये जो कि नैतिक भाषा के स्वरूप और सार्थकता तथा नैतिक निर्णयों के आधारों या औचित्यीकरण से सम्बन्धित था। प्लेटो के रचनाओं से पता चला है कि कई अधि–नैतिक विवेचनाएँ, जो कि आज के दार्शनिक करते हैं, प्लेटो के द्वारा बहुत पहले ही विवेचित हुआ। प्लेटो की रचना *Gorgias* (482C-486D) में कैलिकल्स नामक चरित्र प्रकृति से सम्बन्धित महत्वपूर्ण चर्चा करता है और कहता है कि ''प्रकृति किसी प्रकार का नैतिक विभेद नहीं करती बल्कि नैतिक विभेदकरण मानवीय परम्परा की देन है।''[1] प्लेटो अपनी रचना *Republic* (336B - 354C) में न्याय सम्बन्धित प्रश्न उठाता है तथा न्याय के अर्थ की विस्तृत विवेचना करता है।[2] इस सन्दर्भ में थ्रैसिमेकस ने अधि–नैतिक शून्यवाद को स्वीकार किया और कहा कि न्याय और कुछ नहीं बल्कि सक्षमतम की स्वार्थपूर्ति है। प्लेटो न्याय सम्बन्धी मत पर विचार करते हुए कहता है कि शुभ जैसे अमूर्त पद की भांति इसकी कोई तथ्यमूलक या प्राकृतिक परिभाषा नहीं दी जा सकती। रोचक विषय यह है कि 20वीं शताब्दी के *Principia Ethica* (1903)[3] के वर्षों पूर्व प्लेटों ने *प्राकृतिक परिभाषा के दोष* की ओर इंगित किया। सुकरात का उदाहरण देते हुए प्लेटो अपने संवाद *Euthyphro* (10C-12C) में कहता है कि नैतिक मूल्य वस्तुतः दैवीय आदेशों के आधार पर ही समझा जा सकता है।[4] अरस्तु ने भी सद्गुण और मानव की सार्वभौमिक कल्याण की चर्चा *Nicomachean Ethics* (1850) के प्रथम खण्ड में सविस्तार किया है।[5] प्लेटो से भिन्न वे नैतिक पदों की परिभाषा देने के लिए परिभाष्य पद के जातिगुण और विभेदक लक्षणों को बतलाने की चेष्टा की। उनके अनुसार सद्गुण मानव के मनस की एक विशेष अवस्था है और वह विशेष अवस्था दो अतियों के बीच माध्य चुनाव करने की है।[6] आगे चलकर इस संदर्भ में हमें चीन के दाओवादी परम्परा के ज्वाँजी के मत भी प्राप्त होते हैं कि नैतिक पदों की संगत व्याख्या करने के लिए हमें उसके अर्थ की समीक्षा भलीभांति करनी होगी।[7] महत्वपूर्ण विषय है कि बुद्धिवादी डेकार्ट से लेकर अनुभववादी ह्यूम तक लगभग सभी दार्शनिकों ने अपनी रचनाओं में स्वीकार किया कि नैतिक भाषा की सप्रसंग अर्थ–बोध हुए बिना नैतिकता के विषय में कोई तर्कसंगत व्याख्या नहीं किया जा सकता। जॉन स्टुअर्ट मिल ने *Utilitarianism* (1861)[8] में एवं उसके पूर्व बेन्थम के *An Introduction*

to the Principles of Morals and Legislation (1879)[9] में अपने–अपने पुस्तक के चतुर्थ अध्याय में यह प्रश्न किया कि उपयोगिता नामक प्रथम सिद्धान्त का *औचित्यीकरण* भला कैसे हो सकता है? यह अधि–नैतिक प्रश्न पाश्चात्य दर्शन का बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस सन्दर्भ में बेन्थम का मत है कि जो सिद्धान्त नैतिकता को आधार देता है, उसका कोई तार्किक प्रमाण देना सम्भव नहीं है। इस सन्दर्भ में तथ्य के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि यदि व्यक्ति ईमानदार है तो वह यही कहेगा कि वह सुख चाहता है क्योंकि सुख चाहने योग्य वस्तु है।[10] इस सन्दर्भ में मिल का मानना है कि आगमन या निगमन युक्तियों के सहारे उपयोगितावादी सिद्धान्त की प्रमाणिकता असम्भव है। अतः इसका मनोवैज्ञानिक प्रमाण यह दिया जा सकता है कि यदि व्यक्ति में बौद्धिक ईमानदारी हो तो वह *आत्मशोध* करके देखे तो वह स्वीकार करेगा कि सुख चाहने योग्य वस्तु है, इसलिए मनुष्य उसे चाहता है। अतः अधिक से अधिक लोगों के सुख में वृद्धि करनी चाहिए।[11] इसी प्रकार काण्ट ने भी *Groundwork of the Metaphysics of morals* (1785) में यह स्वीकार किया कि ''कर्तव्य के नियम'' को शुद्धबुद्धि के प्रमाण के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है।[12]

2– बीसवीं शताब्दी में अधि–नीतिशास्त्र– सामान्यतः विश्लेषणात्मक अधि–नीतिशास्त्र का वर्तमान स्वरूप जी0ई0 मूर की पुस्तक *Principia Ethica* (1903)[13] से प्राप्त समझा जाता है। इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में ही वे कहते हैं ''हमारा प्रथम प्रश्न हैः ''शुभ'' क्या है? और ''अशुभ'' क्या है? इस प्रश्न के विवेचन को मैं नीतिशास्त्र की संज्ञा देता हूँ क्योंकि इस विज्ञान में उक्त प्रश्न पर अवश्य विचार किया जाना चाहिए।'' पुनश्च वे कहते हैं कि ''हमारा यह प्रश्न कि ''शुभ क्या है?'' का अर्थ यह नहीं है कि कौन सी वस्तु अथवा वस्तुएँ शुभ हैं अपितु इसका अर्थ यह है कि ''शुभ'' को कैसे परिभाषित किया जा सकता है। यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर नीतिशास्त्रीय प्राथमिक रूप से व्यस्त रहता है।''[14]

नैतिक संज्ञानवाद नैतिक भाषा के अर्थ और सत्यता से संबंधित वह अधिनैतिक सिद्धान्त है जिसके अनुसार नैतिक निर्णय वर्णनात्मक हैं, और इस कारण ये निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों के समान सत्य और असत्य होते हैं। जिस प्रकार हम वर्णन द्वारा इस तथ्य का या विश्व संबंधी कथन का ज्ञान प्रयोग एवं निरीक्षण एवं इन्द्रियों द्वारा साक्षात ज्ञान प्राप्त करते हैं, ठीक वैसे, नैतिक निर्णयों का ज्ञान होता है। जिस प्रकार हम इन्द्रियों के माध्यम से देखकर जानते हैं कि पृथ्वी गोल है, उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा प्रमाणित हो सकता है कि 'मानव सेवा उचित है'।

संज्ञानवाद के दो प्रमुख रूप हैं –(क) प्रकृतिवाद (ख) निर्प्रकृतिवाद

प्रकृतिवाद नैतिक भाषा के अर्थ और सत्यता से संबंधित वह संज्ञानात्मक अधिनैतिक सिद्धान्त है जिसमें नैतिक निर्णयों की सत्यता की पुष्टि प्रयोग एवं निरीक्षण जैसी वैज्ञानिक विधियों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से की जाती है। रिचर्ड बी0 ब्रांट के अनुसार, ''प्रकृतिवादी मानते हैं कि किसी भी नैतिक कथन के अर्थ में परिवर्तन किये बिना उसका अनुवाद अनुभवात्मक विज्ञान की भाषा में किया जा सकता है।''[15]

प्रकृतिवाद के मुख्य दो रूप हैं – 1.व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवाद 2.वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद

व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवाद, वर्णनात्मक सिद्धांत पर आस्था रखते हैं। परन्तु प्रकृतिवाद के समान ये नहीं मानते की नैतिक कथन किन्हीं प्राकृतिक गुणों का वर्णन करते हैं बल्कि व्यक्ति या समूह के पसन्द, नापसन्द, इच्छाओं, अनिच्छाओं, उनकी अभिवृत्तियों, मनोदशाओं, और रूचियों का

वर्णन करते हैं। व्यक्तिनिष्ठवादी नैतिक निर्णयों को प्रमाण योग्य एवं सत्यता मूल्य सम्पन्न स्वीकार करते हैं। अर्थात् ये निर्णय सत्य या असत्य हो सकते हैं। व्यक्तिनिष्ठवादियों के अनुसार किसी नैतिक कथन की प्रामाणिकता इस बात पर निर्भर करती है कि जिन मनोदशाओं का नैतिक निर्णय वर्णन कर रहें है वे उस व्यक्ति या समुदाय में उपस्थित हो या अनुपस्थित हो।

यह विचार पुनः दो रूपों में विभक्त हो गया है– a. व्यक्तिपरक व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवाद b. समूहपरक व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवाद

a. व्यक्तिपरक व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवाद नैतिक निर्णयों की व्याख्या विशेष व्यक्ति के मनोभावों, इच्छाओं, रूचियों या मनोदशाओं के आधार पर करता है। व्यक्तिपरक रूप के अनुसार जब कोई व्यक्ति नैतिक निर्णय देता है तो वह उस निर्णय के सम्बन्ध में स्वयं अपने पसन्द या नापसन्द का वर्णन करता है या यदि यह किसी दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध मे कोई कथन करता है तो वह उस व्यक्ति के पसन्द या नापसन्द, अनुमोदन या अननुमोदन के अनुभवों का वर्णन करता है। इस सिद्धान्त के सबसे बड़े समर्थक एडवर्ड वेस्टरमार्क हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक Ethical Relativity में इस सिद्धान्त का दृढतापूर्वक तर्कों द्वारा समर्थन किया है।

b. समूहपरक व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवाद समूहपरक मत सभी नैतिक निर्णयों को किसी एक व्यक्ति या वक्ता के स्थान पर किसी समूह या अधिकतर व्यक्तियों के मन के भावों का वर्णन करने वाला तथ्यात्मक निर्णय मानता है। समूह कितना बड़ा हो यह स्पष्ट नहीं किया गया है। हो सकता है यह कुछ व्यक्तियों का समूह हो, या विश्व के सभी व्यक्तियों का समूह। इसलिए यह मानना चाहिए कि यह समूह छोटा भी हो सकता है और बहुत बड़ा भी। समूहपरक व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवाद के अनुसार नैतिक निर्णयों के औचित्य का आधार स्वयं वह कर्म के सम्बन्ध में किसी समुदाय के अधिकतर व्यक्तियों की भावनाएं, इच्छाएँ और अभिवृत्तियाँ ही होती हैं। इस सिद्धान्त के समर्थक डेविड ह्यूम, बर्ट्रन्ड रसेल, आर0 बी0 पेरी जैसे दार्शनिक हैं।

निर्प्रकृतिवाद एक संज्ञानत्मक सिद्धांत है जिसके अनुसार नैतिक शब्द कुछ विशेष गुणों का बोध कराते है लेकिन ये विशेष गुण प्राकृतिक ना होकर निर्प्राकृतिक होते हैं। इन गुणों का ज्ञान हमें मन में निहित विशेष शक्ति जिसे अंतःप्रज्ञा कहते हैं, उसके द्वारा होता है। अंतःप्रज्ञा हमें वस्तुनिष्ठ, सार्वभौमिक, सर्वव्यापी, अंसदिग्ध तथा स्वतः सिद्ध ज्ञान प्राप्त कराती है। नैतिक कर्मों के औचित्य का निर्धारण भी अन्तःप्रज्ञा सहज ही करती है। इस सिद्धान्त के समर्थक बटलर, जी0ई0 मूर, प्रिचर्ड, डब्ल्यू0डी0 रॉस आदि हैं।

किन्तु मूर का दावा है कि ऐसा कोई प्राकृतिक पद नहीं है जिसके द्वारा शुभ को परिभाषित किया जा सके। इसलिए वह कहता है कि यदि ''शुभ'' जो कि प्राकृतिक वस्तुओं की भांति नहीं होते हैं, उसे प्राकृतिक वस्तुओं के साथ भ्रमित कर देते हैं तो वहाँ *प्राकृतिक परिभाषा का दोष* होता है। इसलिए मूर की भांति अन्य निर्प्रकृतिवादी दार्शनिक जैसे, एच0ए0 प्रिचर्ड[16] और डब्ल्यू0डी0 रॉस[17] भी मानते हैं कि शुभ जैसे नैतिक पद ऐसे सरल एवं अद्वितीय पद हैं जिनकी कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती। किन्तु ऐसे शब्दों का ज्ञान हमें अपनी अन्तःप्रज्ञा के माध्यम से होता है।

असंज्ञानवाद अधिनीतिशास्त्र का दूसरा प्रमुख सिद्धांत है जो कि संज्ञानात्मक दृष्टिकोण के ठीक विपरीत है। असंज्ञानवाद के अनुसार नैतिक निर्णयों का उद्देश्य किन्हीं तथ्यों का वर्णन मात्र

करना अथवा केवल किन्हीं तथ्यों का बोध कराना नहीं होता। अतः ये निर्णय मुख्यतः वर्णनात्मक नहीं होते। तथ्यात्मक निर्णयों के विपरीत ये नैतिक निर्णय वक्ता की भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं, अन्य व्यक्तियों में इन भावनाओं को जागृत करते हैं और उन्हें कोई कार्य करने या ना करने का आदेश अथवा परामर्श देते हैं। इस कारण इन निर्णयों को संवेगात्मक या परामर्शात्मक ही कहा जा सकता है, वर्णनात्मक नहीं।

नैतिक निर्णय वस्तुनिष्ठ रूप से सत्य अथवा असत्य नहीं हो सकते हैं और इसी कारण जो हमें किसी प्रकार का वस्तुपरक नैतिक ज्ञान भी प्रदान नहीं करते। इन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित असंज्ञानात्मक सिद्धांतों के मुख्य रूप से दो प्रकार हैं प्रथम– संवेगवाद, द्वितीय–परामर्शवाद।

संवेगवाद के अनुसार नैतिक निर्णयों का मुख्य उद्देश्य भावनाओं को अभिव्यक्त करना है। ये निर्णय मूलतः भावनात्मक या संवेगात्मक होते हैं। ये निर्णय वस्तु या कर्म के विषय में कुछ न कहकर निर्णय कर्ता की भावनाओं को व्यक्त करते हैं और श्रोता में इन भावनाओं को जागृत करते हैं। यही कारण है कि नैतिक निर्णय असंज्ञानात्मक होती है और हम इन्हें वस्तुनिष्ठ रूप से सत्य या असत्य नहीं मानते। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति कहता है कि 'चोरी करना अनुचित है' तो वह चोरी करने की कर्म के संबंध में कुछ न कहकर इस कर्म के प्रति अपना अनुमोदन अथवा इसके विपरीत अपनी अप्रसन्नता की भावना को ही अभिव्यक्त करता है। स्पष्ट है कि भावनाओं, अभिवृत्तिओं या संवेगों की अभिव्यक्तियां मात्र होने के कारण यह निर्णय संज्ञानात्मक अथवा वस्तुनिष्ठ रूप से सत्य अथवा सत्य नहीं हो सकता। कार्नेप, एयर, स्टीवेंसन इत्यादि दार्शनिकों ने नैतिक संवेगवाद का समर्थन किया है।

कुछ समकालीन दार्शनिकों ने नैतिक निर्णय के विषय में परामर्शवादी असंज्ञानवाद को स्वीकार करते हुए उपर्युक्त संवेगवाद खंडन किया है। हेयर और पी0एच0 नोवेल स्मिथ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये दार्शनिक नैतिक निर्णय, उनके अर्थ, स्वरूप, तथा प्रमाणीकरण की व्याख्या भिन्न रूप में करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार नैतिक निर्णय संज्ञानात्मक तथा वस्तुनिष्ठ रूप से सत्य या असत्य नहीं होते। परंतु इस सिद्धांत के समर्थक नैतिक निर्णयों को मुख्यतः संवेगों या भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं मानते जैसा कि संवेगवादियों का विचार है। परामर्शवादियों के मतानुसार नैतिक निर्णय केवल हमारी भावनाओं को अभिव्यक्त और अन्य व्यक्तियों में इन भावनाओं को जागृत नहीं करते। वास्तव में यह निर्णय स्वयं अथवा दूसरों को कोई कर्म करने या ना करने का परामर्श देती है और इस प्रकार हमारा अथवा अन्य व्यक्तियों का मार्गदर्शन करती है। भावनाओं की अभिव्यक्ति के स्थान पर मार्गदर्शन करना ही नैतिक निर्णय का मूल उद्देश्य होता है। अतः यह निर्णय संवेगात्मक ना होकर मुख्यतः परामर्शत्मक होती है। संवेगात्मक निर्णयों के विपरीत नैतिक निर्णय को तर्कों अथवा युक्तियों द्वारा उचित या अनुचित सिद्ध किया जा सकता है और इस कारण हम इन निर्णयों को 'युक्तिसंगत निर्णय' मान सकते हैं।नैतिक निर्णय किन्हीं तथ्यों, गुणों अथवा सम्बन्धों का वर्णन मात्र नहीं करते हैं बल्कि ये कथन संवेगात्मक एवं परामर्शात्मक होते हैं। इस सन्दर्भ में संवेगवादी दार्शनिक ए0जे0 एयर अपनी पुस्तक *Language, Truth and Logic* (1936) में स्वीकार करते हैं कि ''कोई कर्म उचित व अनुचित है, यह कहते हुए मैं कोई तथ्यात्मक वक्तव्य नहीं देता हूँ और न ही अपनी मनोदशा के सम्बन्ध में कुछ कहता हूँ। मैं केवल कुछ नैतिक भावनाओं

को अभिव्यक्त करता हूँ।''[18] इसी प्रकार सी0एल0 स्टीवेन्सन अपनी लेख *The Emotive Meaning of Ethical Terms (1937)* में स्वीकार करते हैं कि ''शुभ की परिभाषा अनुमोदन एवं मनोवैज्ञानिक अभिवृत्ति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।''[19] संवेगवाद का पूर्वाभास हमें बर्कले की पुस्तक *A Treatise concerning the Principles of Human Knowledge* (1710) से प्राप्त होता है जहाँ वे स्वीकार करते हैं कि ''अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करना और अन्य व्यक्तियों में इन भावनाओं को जागृत करना दूसरों को कोई कर्म करने अथवा न करने के लिए प्रेरित करना आदि भाषा के मुख्य उद्देश्य है।''[20]

यद्यपि संवेगवाद की भांति परामर्शवादी भी निर्देशात्मक सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं किन्तु वे नैतिक सिद्धान्त को संवेगात्मक न मानकर परामर्शात्मक मानते हैं। आर0एम0 हेयर अपनी पुस्तक *The Language of Morals* (1952) में नैतिक भाषा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहता है कि ''नैतिक भाषा परामर्शात्मक भाषा का एक भाग है और यही तथ्य नीतिशास्त्र के अध्ययन को योग्य बनाता है, क्योंकि यह प्रश्न कि ''मुझे क्या करना चाहिए?'' एक ऐसा प्रश्न है जिससे हम बहुत दिनों तक भाग नहीं सकते।''[21] इस प्रकार ये नैतिक भाषा को मात्र परामर्शात्मक या मूल्यात्मक मानते हैं।

किन्तु जी0जे0 वारनॉक अपनी पुस्तक *Contemporary Moral Philosophy* (1974) में स्वीकार किया कि नैतिक भाषा मात्र परामर्शात्मक नहीं होते अपितु इनके दर्जनों कार्य हैं।[22] इसी प्रकार पी0एच0 नॉवलस्मिथ अपनी पुस्तक *Ethics* (1954) में स्वीकार करते हैं कि ''नैतिक भाषा मुख्य रूप से मूल्यात्मक होते हैं किन्तु ये भिन्न–भिन्न भूमिकाएँ निभाते हैं। इनका प्रयोग रूचियों और पसन्द को अभिव्यक्त करने, निर्णय करने और चुनाव को अभिव्यक्त करने, आलोचना करने, मूल्यांकन करने, परामर्श देने, भर्त्सना करने, चेतावनी देने, मनाने तथा रोकने, प्रशंसा करने, प्रोत्साहित करने, निन्दा करने, नियमों को घोषित करने तथा उनकी ओर ध्यान आकृष्ट करने और निस्संदेह अन्य उद्देश्यों के लिए भी किया जाता है।''[23]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर निम्न खण्ड में अब इस बात का अध्ययन किया जाएगा कि अधि–नीतिशास्त्रीय किन समस्याओं का समाधान करता है।

अधि–नीतिशास्त्र की समस्याएँ

पिछले खण्ड में हमने देखा कि अधि–नीतिशास्त्रीय जिन प्रश्नों से जुझता है वह मुख्यतः तीन प्रकार के हैं–

1– नैतिक प्रत्ययों एवं धारणाओं जैसे –''शुभ'', ''उचित'', ''कर्तव्य'' आदि का अर्थ क्या है। सभी दार्शनिकों ने इन शब्दों की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं दे सके क्योंकि विभिन्न प्रसंगों में इन शब्दों का अर्थ भिन्न–भिन्न हो जाता है। वर्णनवादी स्वीकार करते हैं कि शुभ का अर्थ तथ्यों का वर्णन करना है तो संवेगवादी दार्शनिक मानते हैं कि इसका अर्थ संवगों या भावनाओं को अभिव्यक्त करना है तो कुछ अन्य दार्शनिक जैसे परामर्शवादी इसे अन्य व्यक्ति को परामर्श देने वाला पद मानते हैं।

2– अधि–नीतिशास्त्र की द्वितीय समस्या इसके स्वरूप को लेकर उत्पन्न होती है कि क्या ये मात्र तथ्यों का बोध कराने वाले वर्णनात्मक स्वरूप के होते हैं या संवेगात्मक या आदेशात्मक

स्वरूप के। संज्ञानवादी मानते हैं कि ये निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों के समान हमें कुछ तथ्यों का बोध करवाते हैं इसलिए इनका स्वरूप वर्णनात्मक है। जबकि दूसरी ओर संवेगवादी मानते हैं कि ये निर्णय वक्ता के संवेगों को अभिव्यक्त करने तथा श्रोता में उन भावनाओं को उत्पन्न करने के कारण संवेगात्मक स्वरूप के होते है। जबकि परामर्शवादी मानते हैं कि ये कथन सुझाव देने के कारण परामर्शात्मक स्वरूप के होते हैं।

3– अन्त में, इनके प्रमाणीकरण की समस्या है। कुछ दार्शनिक जैसे संज्ञानवादी मानते हैं कि बौद्धिक तर्कों के माध्यम से इसको प्रमाणित किया जा सकता है, जबकि असंज्ञानवादी मानते है कि ये कथन संवेगात्मक होने के कारण बौद्धिक तर्कों से प्रमाणित करना असम्भव है।

निष्कर्ष

इन बातों के आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि अधि–नीतिशास्त्र का अधिक गति से विकास 20वीं शताब्दी में *Principia Ethica* (1903) के उपरान्त हुआ किन्तु इसके पूर्व ग्रीक में तथा अन्य प्रान्तों में विशेषकर यूरोप में प्रबोधन के पश्चात् अधि–नैतिक प्रश्नों यथा नैतिक भाषा के अर्थ और उसके औचित्यीकरण के सम्बन्ध में सविस्तार चर्चा हुई। अतः ये समस्याएँ आधुनिक युग के साथ प्राचीन, ग्रीक और मध्य युग में भी विद्यमान था।

सन्दर्भ

1. Internet Encyclopedia of Philosophy, *htts://www.iep.utm.edu/ metaethi/*
2. Plato, *The Republic,* (Trans.) Benjamin Jowett (ed.) Joslyn T. Pine, Dover Publication, Inc., 2000.
3. Moore, G.E., *Principia Ethica,* Cambridge University Press, 1903.
4. Plato, *Euthyphro,* (Trans.) G.M.A. Grube, Revised by John M. Cooper, Hacket Publishing Company, Inc., 2002.
5. Aristotle, *Nicomachean Ethics,* (Trans.) F.A. Paley, M.A., J. Hall & Son, Cambridge, 1872.
6. Ibid.
7. Internet Encyclopedia of Philosophy, *htts://www.iep.utm.edu/ metaethi/*
8. Mill, John Stuart, *Utilitarianism,* Parker, Jon & Bourn, West Strand, London, 1863.
9. Benthom, Jeremy, *An Introduction to the Principles of Morals and Legislation,* Clarendon Press, Oxford, 1879.
10. Ibid, chap. 4.
11. Mill, John Stuart, *Utilitarianism,* Parker, Son & Bourn, West Strand, London, 1863 chap. 4.
12. Kant, Immanuel, *Groundwork of the Metaphysics of Morals,* Harp person, 1964.
13. Moore, G.E., *Principia Ethica,* Cambridge University Press, 1903.
14. Ibid, pp. 3-5.
15. Brandt, Richard B., *Ethical Theory,* Prentice Hall, Inc. 1959, p. 155.

16. Prichard, H.A., Does Moral Philosophy rest on a Mistake, *Moral writings* Edited by Jim Mac Adam, Oxford University Press, 2002, chap. 2.
17. Ross, W.D., *The Right and the Good,* Oxford University Press, 1930.
18. Ayer, A.J., *Language, truch and Logic,* Victor Gallancz, London, 1936, p. 142.
19. Stevenson, C.L., The Emotive Meaning of Ethical Terms, Mind, 1937, p. 15.
20. Berkeley, George, *A Treatise concerning the Principles of Human Knowledge,* Dover Publication, Inc., New York, 1910.
21. Hare, R.M. *The Language of Morals,* Oxford University Press, 1951, p. 1.
22. Warnock, G.J., *Contemporary Moral Philosophy,* Palgrave Macmillian, London, 1967, p. 34-35.
23. Nowell-Smith, P.H., *Ethics,* Penguin Books Ltd. U.S.A., 1954, p. 98.